



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2015; 1(6): 31-33

© 2015 IJSR

www.sanskritjournal.com

Received: 21-07-2015

Accepted: 26-08-2015

प्रवीन शर्मा

शोध छात्र, संस्कृत विभाग,
म.द.वि., रोहतक

योगदर्शन में ईश्वरवाद

प्रवीन शर्मा

आसन तथा प्राणायाम जैसी कष्टसाध्य क्रियाओं को सुनकर कोमल शरीरधारी हठयोग में प्रवृत्त होने से भयभीत होते हैं। चंचल स्वभाव के व्यक्ति प्रकृति आदि सूक्ष्म पदार्थों में चित्त को स्थिर करने की कल्पना भी नहीं कर पाते हैं। प्रत्यक्षवादी अलक्ष्यभूत ईश्वरतत्त्व के चिन्तन में विश्वास नहीं करते हैं। भक्तिरस से आप्लावित भक्तगण प्रभु का ध्यान करने से अतिरिक्त भौतिक, तुच्छ किन्तु सत्य तत्त्वों के चिन्तन की बात नहीं सोच पाते हैं। भिन्न-भिन्न स्वभाव के व्यक्ति जीवन का चरम-लक्ष्य मोक्ष कैसे उपलब्ध कर सकें? — इस प्रश्न के समाधानार्थ महर्षि पतंजलि ने भिन्न-भिन्न मार्गों का प्रदर्शन करने वाले योगशास्त्र का निर्माण किया। इससे ज्ञानी, कर्मी, भक्तिवादी, प्रत्यक्षवादी एवं हठयोगी आदि सभी प्रकार के साधक अपने अनुकूल मार्ग का अनुसरण कर लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं। पातंजल-योगशास्त्र-ज्ञानयोग, हठयोग, कर्मयोग, प्रेम-भक्तियोग, अद्वैतयोग, लययोग, ध्यानयोग, चर्यायोग आदि सभी योगों का एक महायोग है। यह एकान्तवादी दर्शन नहीं अपितु समन्वयवादी दर्शन है। यह एक व्यक्ति का नहीं अपितु मानवमात्र का सर्वांगीण विकास करने वाला है।

ईश्वर-भक्तों की तुष्टि के लिए महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में भक्तियोग का समावेश किया और उसे सर्वश्रेष्ठ साधन घोषित किया है।¹ यह भक्तियोग ईश्वरतत्त्व से सम्बन्धित है, इसलिए योगशास्त्र में ईश्वर का महत्वपूर्ण स्थान है यद्यपि जगत् के सृजन एवं उपसंहार में ईश्वर का विशेष उपयोग नहीं है तथापि साधक को अल्प प्रयास से मोक्ष-प्राप्ति के अन्तिम एवं मुख्यतम साधन असम्प्रज्ञात-समाधि तक पहुंचाने में भगवत्कृपा सर्वोत्तम उपाय है। भगवत्कृपा ईश्वर-चिंतन पर अवलम्बित है।

योग के व्याख्याकारों के अनुसार अविद्या आदि पांच क्लेश, राग-द्वेष आदि से उत्पन्न अच्छे-बुरे कर्म, कर्मानुसार फलोपभोग एवं भोगरूप वृत्ति से उत्पन्न वासनापुंज इन सबसे ईश्वर सर्वदा अस्पृष्ट है।² यद्यपि पुरुषमात्र में क्लेशादि से असम्बद्धता पाई जाती है तथापि बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय आदि उपाधियों के संयोग से जीवत्व को प्राप्त हुए पुरुष में अपनी समीपवर्तिनी बुद्धि के धर्मों का प्रतिसंक्रमण होता है। इससे अकर्ता होते हुए भी जीव अपने को भोक्ता समझता है। पुरुष में चिच्छायापत्ति से बुद्धिगत सुख-दुःख आदि धर्मों को प्रतिफलन होता है। इस सम्बन्ध की स्थापना करती है — अविद्या। बुद्धि की सम्पत्ति का अपने को स्वामी समझना ही पुरुष का बन्ध है। अविद्याकृत बन्धन का स्वरूप समझकर उससे मुक्ति पाने के लिए योग-साधना में प्रवृत्त हुआ बद्ध पुरुष कालान्तर में प्रकृति तथा पुरुष के भेदज्ञान के पश्चात् अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, जिसे मोक्ष कहते हैं। अतः मुक्त पुरुषों की पहले वृद्धावस्था रहती है। यही स्थिति विदेह और प्रकतिलीन योगियों की है; क्योंकि उनका उत्तरकालिक-बन्ध होता है।³ साधारण पुरुषों का तो कहना ही क्या? वे बद्ध ही रहते हैं। इन अनन्त पुरुषों में एक पुरुष भी है। वह बन्धन के कारण से सदा मुक्त रहने के कारण उसके कार्य से भी पूर्णतया असम्पृक्त है। तात्पर्य यह है — यद्यपि सुख-दुःख आदि का वास्तविक भोगशून्यत्व पुरुषमात्र का स्वरूप है तथापि पुरुष-विशेष में औपाधिक भोग भी उपलब्ध नहीं होता है। यही पुरुष-विशेष योगदर्शन में ईश्वर नाम से अभिहित है।

औपाधिक भोगशून्यता एवं त्रैकालिक बन्धशून्यता मात्र पुरुषविशेष का स्वरूप नहीं है। वह अप्रतिहत सामर्थ्य सम्पन्न भी है। यह प्रतिबन्धशून्य सामर्थ्य ज्ञान एवं क्रिया रूप है। चूंकि ज्ञान तथा क्रिया चित्त के धर्म हैं इसलिए ईश्वर को भी चित्तरूप उपाधि धारण करनी पड़ती है। योगदर्शन में सर्वज्ञत्व का वैसा ही स्वरूप कहा गया है जैसा कि न्यायवैशेषिक में प्रतिपादित हुआ है। लेकिन दोनों में सूक्ष्म अन्तर यह है कि योगदर्शन में न्यायवैशेषिक की तरह चेतन आत्मा में सर्वज्ञत्व का समर्थन नहीं किया गया, अपितु उसके उपाधिभूत सत्त्वगुणप्रधान-बुद्धि में ही ईश्वरीय सर्वज्ञत्व की कल्पना की गई है।

ईश्वरोपाधि-चित्त जीवोपाधि-चित्त से भिन्न है। वह रजस् तथा तमस् से रहित विशुद्ध सत्त्वगुणप्रधान है। जीव का उपाधिभूत चित्त त्रिगुणात्मक है। लेकिन दोनों चित्त प्रकृति के कार्य है।

जीव का चित्त के साथ सम्बन्ध अविद्या के कारण है। लेकिन ईश्वर का अपनी उपाधि के साथ सम्बन्ध-ज्ञान तथा धर्म के उपदेश द्वारा तापत्रय से पीड़ित प्राणिमात्र का संसार के आवागमन से उद्धार

Correspondence

प्रवीन शर्मा

शोध छात्र, संस्कृत विभाग,
म.द.वि., रोहतक

करुंगा – इस प्रयोजन से होता है, अविद्या के कारण नहीं। ईश्वर में अज्ञान नहीं है।⁴ योग के प्रायः सभी व्याख्याकारों की ओर से ईश्वर एवं उसकी उपाधि के संयोग का यह मुख्य समाधान है। उक्त विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं – अविद्या को अवास्तविक समझकर उसका सेवन करने वाला व्यक्ति भ्रमयुक्त नहीं समझा जाता है। जैसे राम, कृष्ण आदि न होता हुआ भी नट अपने में ईश्वरावतार राम-कृष्ण आदि का आरोप कर रंगमंच पर दर्शकों के समक्ष अभिनय प्रस्तुत करता है। लेकिन कृष्णादि की लीलाओं के प्रदर्शन से वह अपने को उन्मादी नहीं समझता तथा दर्शक भी उसे भ्रान्त नहीं समझते हैं। उसी प्रकार प्रलयकाल के पश्चात् आगामी सृष्टि में ईश्वर का अपने उपाधिभूत चित्त के साथ सम्बन्ध आहार्यज्ञान-पूर्वक होता है चित्त-ग्रहण करके ईश्वर उसकी सहायता से अनेक प्रकार की लीलाएं किया करता है अतः प्रकृष्टसत्त्वप्रधान उपाधि के साथ ईश्वर का सम्बन्ध अविद्यामूलक न होकर जीवों के कल्याणार्थ आहार्यज्ञानपूर्वक है। प्रकृष्ट-सत्त्व के साथ ईश्वर के संयोग में प्रकृति तथा पुरुष के संयोग के प्रसिद्ध हेतु अविद्या से भिन्न हेतु का उपयोग होता हुआ देखकर पूर्वपक्षी ऊपरनिर्दिष्ट संयोजक हेतु में अन्योन्याश्रय दोष की उद्भावना करता है। अन्योन्याश्रयदोष का स्वरूप इस प्रकार है – इच्छा चित्त का धर्म है। जीवों का उद्धार करने की इच्छा होने पर ही ईश्वर प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त धारण कर सकता है। लेकिन प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त के पूर्वगृहीत होने पर ही ईश्वर में जीवोद्धार की इच्छा उत्पन्न हो सकती है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह हुआ – जैसे चित्त-ग्रहण से पूर्व ईश्वरेच्छा अनिवार्य है; वैसे ही ईश्वरेच्छा से पूर्व चित्त का गृहीत होना आवश्यक है। इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष लगता है। अतः प्रकृष्ट-सत्त्वप्रधान चित्त तथा ईश्वर के संयोग का उपर्युक्त हेतु ठीक नहीं है। ईश्वर में आविद्यक संयोग भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि ईश्वर क्लेशादि से शून्य है। अतः ईश्वर का प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त के साथ किस प्रकार संयोग हो सकता है? पूर्वपक्षी की उपर्युक्त शंका के निरसनार्थ आचार्य वाचस्पति कहते हैं— ईश्वर तथा उसके उपाधिभूत चित्त के संयोग में अन्योन्याश्रयदोष की सम्भावना तभी हो सकती थी यदि यह प्रथम सृष्टि होती। लेकिन ऐसा नहीं है। सृष्टि तथा प्रलय का चक्र बीजाङ्कुरन्याय की भांति अनादिकला से चला आ रहा है। प्रत्येक सृष्टि के संहारकाल में – जब प्रलय की अविध समाप्त होगी तब मैं जीवकल्याणार्थ विशुद्धचित्त को पुनः धारण करुंगा – इस प्रकार का संकल्प करता हुआ ईश्वर चित्तस्वरूप को मूलकारण प्रकृति में तिरोहित करता है। इस प्रकार प्रकृति का कार्य प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त भी प्रलय के समय अपने मूल-कारण में सूक्ष्मरूप से अवस्थित हो जाता है किन्तु जगदुत्पत्ति-काल में पुनरुत्थान की वासना से वासित चित्त पुनः उत्थित होकर ईश्वर के साथ उक्त संकल्प से संयुक्त हो जाता है। फलस्वरूप ईश्वर भी ज्ञान-धर्म के उपदेश के लिए पुनः प्रवृत्त होता है। निश्चित समय में मूलकारण से उत्थित होकर ईश्वरोपाधि प्रकृष्टचित्त का उपधेय के साथ संयुक्त होना उसी प्रकार है जिस प्रकार रात्रि में व्यक्ति अगले दिन प्रातः निश्चित समय पर जागने का दृढ संकल्प करके सोता है और उसी समय उसकी निद्रा भंग हो जाती है। यह जागृति उसके दृढ संकल्प द्वारा छोड़े गए संस्कार के बल पर होती है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों द्वारा ईश्वरोपाधि के साथ ईश्वर के संयोगार्थ दिए गए उक्त हेतु को गौण कोटि में रखा।⁵ उनका वक्तव्य है – प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है— नित्य-प्रवृत्ति एवं अनित्य-प्रवृत्ति। अनित्य प्रवृत्ति निर्निमित्तिक नहीं हुआ करती, वह निमित्त सापेक्ष ही होती है। दूसरी तरफ नित्य प्रवृत्ति के लिए हेतु की आवश्यकता नहीं रहती, वह स्वाभाविक है। ईश्वर की प्रवृत्ति नित्य है। इसलिए लौकिक प्रवृत्ति के हेतु की भांति आत्मकाम ईश्वर की प्रवृत्ति क्यों और कैसे होती है? इस प्रकार की शंका ही नहीं उठती है। विज्ञानभिक्षु के परवर्ती व्याख्याकार भावागणेश एवं नागेश भट्ट आदि पर भी विज्ञानभिक्षु के उक्त मत का प्रभाव पड़ा। उन लोगों ने भी ईश्वर की नित्य-प्रवृत्ति को सहेतुक नहीं माना है।

ऊपर वर्णित दो विरोधी विचारधाराओं के आधार पर ही महाप्रलय के समय ईश्वरोपाधि का लय होता है अथवा नहीं? – इस अंश में भी योग के व्याख्याकारों का मतभेद दृष्टिगोचर होता है। आचार्य रामानन्दयति तथा संक्षिप्त योगसूत्रवृत्तिकार नागेशभट्ट ने ईश्वरोपाधि प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त महाप्रलय में अपने उपधेय ईश्वर से पृथक् होकर मूलकरण प्रकृति में तिरोहित होता है – ऐसा माना है। हेतु उपन्यस्त करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र लिखते हैं – जो जिसका कार्य होता है, कालान्तर में उसका अपने कारण में लय होना स्वाभाविक है। एक पदार्थ से तत्सजातीय द्वितीय पदार्थ की उत्पत्ति और उसी में उसके लय के आधार पर उन दोनों पदार्थों के कार्य-कारणभावसम्बन्ध का निश्चय किया जाता है। यदि महाप्रलय के समय प्रकृति में सत्त्वप्रधान विशुद्ध-चित्त का लय न माना जाए; तो वह प्रकृति का कार्य नहीं कहा जा सकेगा। दूसरी तरफ सांख्ययोगशास्त्र में प्रकृति तथापुरुष के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ स्वीकृत न होने से ईश्वरोपाधि को अर्थान्तर भी नहीं कह सकते हैं। सारांश यह हुआ कि प्रकृष्ट सत्त्वप्रधान चित्तसत्त्व प्रकृति का कार्य है। यह महाप्रलय के समय अपने मूलकारण में लय को प्राप्त होता है। ईश्वर का अपनी उपाधि से वियोग महाप्रलय में ही हो सकता है। शास्त्रों ने नित्यमुक्त ईश्वर में सृष्ट्युत्पत्ति आदि कार्यों का भार हिरण्यगर्भ को सौंपा है।⁶ श्रुतिया भी हिरण्यगर्भ को जगत् का पति, कर्ता एवं रक्षक सिद्ध करती हैं। हिरण्यगर्भ ईश्वर के समान अनादि मुक्त नहीं हैं उसकी भी मुक्ति सुनी जाती है। ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रस्वरूप भगवान् हिरण्यगर्भ जगत् के अधिष्ठाता हैं वह पूर्व सर्ग में सास्मित-समाधि तक पहुंचने के कारण वर्तमान सृष्टि में सर्वज्ञ होकर प्रादुर्भूत होता है। इस सर्वज्ञता के बल पर ही वह जगत् को प्रवृत्त करता है। अविप्लुतविवेकख्याति के उदय होने पर जब वह मोक्ष पद पर अवस्थित होता है, तब मूलकारण प्रकृति से उत्पन्न सृष्टि के महाभूत, तन्मात्र, इन्द्रिय आदि सभी पदार्थ अपने-अपने तन्मात्रा आदि कारणों में क्रमशः लीन होते हुए परम्परया मूलकारण प्रकृति में सूक्ष्मरूप से स्थित हो जाते हैं। सांख्य तथा योग का यही सिद्धान्त है।⁷ तात्पर्य यह है कि अपरोक्षज्ञानवान् होने से हिरण्यगर्भ जीवन्मुक्त ही है, किन्तु सकल ब्रह्माण्डात्मक जगत् के चलाने का प्रारब्धकर्म उसका अविशिष्ट रहने से उसे तत्काल विदेहमुक्ति नहीं मिलती है। प्रारब्धकर्म का भोग द्वारा क्षय एवं अविप्लुतविवेकज्ञान होने पर वह विदेहमुक्त होता है। फलस्वरूप सृष्टि का भी लय हो जाता है। आचार्य भोजदेव, विज्ञानभिक्षु, भावागणेश एवं बृद्योतसूत्रवृत्तिकार नागेश भट्ट का विचार दूसरा है ये महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का लय नहीं स्वीकार करते हैं। इनका कहना है – ईश्वर का उपाधिभूत विशुद्ध चित्त नित्य है।⁸ उस चित्त के ज्ञान, इच्छा आदि धर्म भी नित्य है। महाप्रलय में ईश्वर की ज्ञानात्मिका वृत्ति – जो चित्त का धर्म है – बनी रहती है। ईश्वर के लिए महाप्रलय की अवस्था ही नहीं है। श्रुति भी ईश्वर के दिन तथा रात्रि का निषेध करती है। ईश्वर के उपाधि-भूत चित्त का लय मानने पर महाप्रलय में ईश्वर का ज्ञातृत्व नहीं बन पाएगा; क्योंकि यह वृत्ति का ही धर्म है। महाप्रलय में उपाधिभूत चित्त के बिना ही ईश्वर ज्ञातृत्व-धर्म मानना प्रमाण के विरुद्ध है। आचार्य विज्ञानभिक्षु एवं नागेश भट्ट के प्रलयावस्था में ईश्वर संकल्पपूर्वक उपाधि को अपने से अलग करके शयन करते हैं एवं अग्रिम सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर से अलग हुई उपाधि पूर्वसर्गीय संकल्प के संस्कार से पुनः ईश्वर के समीप आ जाती है – इस मत से सहमत नहीं है। महर्षि पतंजलि ने कहा है कि पुरुष के साथ चित्त के संयोग का मूल है – अविद्या। इस स्थिति के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति में लीन हुए विशुद्ध चित्त के साथ पुरुष-विशेषात्मक ईश्वर के संयोग के लिए ईश्वर को भी अविद्या का आश्रय लेना पड़ेगा।⁹ तद्वशात् ईश्वर भी अविद्या-ग्रस्त हो जाएगा। ईश्वर को तत्त्वज्ञान रहते हुए भी ईश्वर-चित्तसंयोग अविद्या का एक विलास है तो उक्त विला से विद्या से अविद्या बलवत्तर है— यही प्रमाणित हो जाएगा। इससे अविद्या का नाश होता है – इस प्रकार सौत्र-सिद्धान्त भंग हो जायगा। अतः महाप्रलय में ईश्वरोपाधि

का लय नहीं होता है – ऐसा कहना चाहिए।

ईश्वर के अप्रतिहत ऐश्वर्य का सिद्धान्त देखकर कहीं पूर्वपक्षी अणिमा आदि ऐश्वर्य-सम्पन्न योगियों के समकक्ष ईश्वर को न लाने लगे, इसलिए वाचस्पति आदि व्याख्याकारों ने सिद्धिप्राप्त योगियों से भी ईश्वर को पृथक् किया है। उनका कहना है कि ईश्वर में निरतिशय ऐश्वर्य है। यह एकमात्र ईश्वर में है, अन्य में नहीं। सिद्धि-प्राप्त योगियों में न्यूनाधिक परिमाण का ऐश्वर्य है तथा कभी-कभी दो योगियों में तुल्य परिणाम का ऐश्वर्य भी उपलब्ध होता है। अतः सिद्धिप्राप्त योगियों के ऐश्वर्यादि निरतिशय नहीं है।

यदि ईश्वर जैसी अप्रतिहत इच्छा अन्य पुरुष में भी स्वीकार की जाए तो सुव्यवस्थित ढंग से जगत् का संचालन नहीं हो सकेगा। क्योंकि एक ही पदार्थ की उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति के विषय में दो समान ऐश्वर्य के ईश्वरों की भिन्न-भिन्न इच्छा हो सकती है। तब एक ही इच्छानुसार कार्य उत्पन्न होने लगे तो दूसरे की इच्छा को क्षति पहुंचेगी। यदि दूसरे के संकल्प के अनुसार उस पदार्थ की उत्पत्ति न हो तो वह पदार्थ कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा। दोनों की इच्छा के अनुसार समान काल में एक ही पदार्थ उत्पन्न एवं अनुत्पन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि उत्पत्ति और अनुत्पत्ति प्रकाश एवं अन्धकार की भांति परस्पर विरोधी हैं। जैसे प्रकाशाभाव काल में प्रकाश नहीं रह सकता, वैसे ही अन्धकाराभाव काल में उसका विरोधी अन्धकार नहीं रह सकता है। अतः ईश्वर एक ही है।

ईश्वर के सर्वज्ञता, तृप्ति, उनादिबोध, नित्य, अलुप्तशक्ति और अनन्तशक्ति – ये छः अंग हैं तथा ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपस, सत्य, क्षमा, धृति, स्त्रष्टत्व, आत्मसम्बोध तथा अधिष्ठातृत्व – ये दस अव्यय हैं।

ईश्वर अनादि, नित्य, सर्वज्ञ एवं सर्वेश्वर्य-सम्पन्न है। उसका काल से परिच्छेद नहीं है। वह प्राणियों को ज्ञान एवं धर्म का उपदेश देता है। इसलिए वह सृष्टि के आदि में उत्पन्न ब्रह्मादि का भी गुरु कहा जाता है। ईश्वर की गुरुता त्रैकालिक है। वर्तमान सर्ग के समान उसने अतीत सर्गों में भी प्राणियों का उपदेश दिया था और आगामी असंख्य सर्गों में भी वह इसी प्रकार उपदेश देता रहेगा। ब्रह्मा, अंगिरस् आदि को ज्ञान, धर्म आदि का पूर्ण उपदेशक नहीं कह सकते। क्योंकि वे सृष्टि और प्रलय में आविर्भूत एवं तिरेभूत होते हैं। ईश्वर आप्तकाम एवं निरतिशय वैराग्यसम्पन्न है।

करुणा का आगार प्रभु प्रकृति का विकास-पुरुष को कैवल्य प्राप्त हो- इस उद्देश्य से करता है। अर्थात् कृपा-परवश होकर ईश्वर सृष्टि में प्रवृत्त होता है। पुरुष को शब्दादि विषयों के उपभोग के पश्चात् प्रकृति-पुरुष का यथार्थ भेदज्ञान होने पर कैवल्य प्राप्त होता है। प्रकृति से अपने को पूर्णतया पृथक् समझने वाले व्यक्ति की बुद्धि आदि उपाधियां चरिताधिकारा होकर अपने मूलकारण में लीन हो जाती है। इससे पुरुष अपने औपाधिक जीवत्व को त्यागकर ज्ञानस्वरूप में स्थित हो जाता है। इस प्रकार पुरुष को उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराना ही ईश्वर की प्रवृत्ति का प्रयोजन है। किन्तु जीव को मोक्षदशापन्न कराने में वह स्वतन्त्र नहीं, अपितु परतन्त्र है। यह परतन्त्रता मनुष्यों द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मों के कारण है। ईश्वर के न्यायालय में किए गए अच्छे-बुरे कर्मों का फलोपभोग करना अपरिहार्य है। यदि एक जन्म में कर्मनिमित्तक दण्डभोग पूरा न हो सके तो उसके लिए भावी जन्म भी धारण करने पड़ते हैं। अतः महाप्रलय के पश्चात् सुख-दुःख से मिश्रित सृष्टि होती है तो इसमें ईश्वर की इच्छा है। अतः ईश्वर कारुणिक भाव से सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होता है।

पातंजल-योग में असम्प्रज्ञातयोग-प्राप्ति के परिगणित उपायों में ईश्वरप्रणिधान वैकल्पिक साधन है। तत्त्ववैशारदी, राजमार्तण्ड आदि ग्रन्थों में यही मान्यता समर्थित है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने परमेश्वरयोग को जीवयोग की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है। उन्होंने परमात्मसाक्षात्कार को मुख्यकल्प एवं जीवसाक्षात्कार को अनुकल्प के अन्तर्गत रखा है। दोनों तत्त्वों के साक्षात्कार को अनुकल्प के अन्तर्गत रखा है। दोनों तत्त्वों के साक्षात्कार के लिए ध्येयविषयक धारणा, ध्यान एवं समाधि आवश्यक है। लेकिन परमात्मत्व के साक्षात्कारी को असम्प्रज्ञातयोग तक पहुंचने के लिए श्रद्धादि उपायों

के करने में सावधान न रह पाने के कारण व्याकुल नहीं रहना पड़ता। क्योंकि भक्त की शारीरिक दुर्बलता देखकर ईश्वर उस पर कृपा की वर्षा कर देता है। परन्तु जीवात्मतत्त्व के साक्षात्कारी को असम्प्रज्ञातयोग अत्यन्तशीघ्र प्राप्त हो इस इच्छा से पूर्ण तत्परता के साथ उपायों का अभ्यास करते रहना पड़ता है। अन्यायी योग प्राप्ति में विलम्ब अवश्य भावी है।

आत्मा के व्यवहारिक तथा पारमार्थिक दो रूप हैं। परमात्मा में आत्मत्व-व्यवहार वास्तविक है। किन्तु जीव में आत्मत्व-प्रयोग गौण है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने संघात के अध्यक्ष एवं क्षेत्रज्ञ को आत्मा कहा है। आत्मत्व का यह स्वरूप एक मात्रा ईश्वर में माना है। क्योंकि ईश्वर में ही ऐश्वर्य की यथार्थता है। ऐश्वर्य का अर्थ अप्रतिहत ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति है। यद्यपि जीव में भी ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति है तथापि वह अनेक विघ्न-बाधाओं से युक्त है। यही कारण है कि जीवात्मा को परतन्त्र एवं धर्माधर्म आदि के ज्ञान से शून्य कहा जाता है। इसलिए जीवात्मतत्त्व के साक्षात्कार से साधक का बुद्धिपर्यन्त पदार्थों में होने वाला आत्मत्वाभिमान निवृत्त हो जाता है। किन्तु चरमतत्त्व परमात्मा का साक्षात्कार करके साधक जीव को भी अनात्म कोटि में रखने लगता है।

जीव को आत्मा कहने के कई कारण हैं। जिस प्रकार ईश्वर में स्वरूपभूत चेतनत्व है उसी प्रकार जीव में भी है। किन्तु चेतनत्व के सामर्थ्य में न्यूनाधिकभाव है। ज्ञत्व का सादृश्य होने के कारण हिरण्यगर्भ आदि ईश्वर कहे जाते हैं। लेकिन अनादि मुक्त न होने से ये वास्तविक ईश्वर नहीं अथवा यह कहा जा सकता है कि पंचविंशति पदार्थों में से चौबीस पदार्थ जड़ होने से अनात्मरूप हैं, उनसे भिन्न होने से चेतन जीव में आत्मत्व-व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार 'अहं' तथा 'त्वम्' शब्द का भी मुख्यार्थ परमात्मा है, जीव नहीं। अपने मत की पुष्टि में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने श्रुति से प्रमाण दिया है। श्रुतियां भी जीव एवं ईश्वर के जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध का प्रतिपादन करती हैं। अतः स्पष्ट है कि ईश्वर अंशी है और जीव उसके अंश है। इन अनन्त जीवांशों का अंशी ईश्वर के साथ अविभाज्यसम्बन्ध है। जैसे पिता तथा पुत्र; अग्नि तथा विस्फुलिंग का सम्बन्ध अविभाज्य है। क्योंकि उनमें कार्यकारणभावसम्बन्ध है अपने मत की पुष्टि में उन्होंने स्मृति से वचन भी उद्धृत किया है। उसका अर्थ है – जैसे एक दीप सहस्र दीपों को प्रज्वलित करता है, वैसे ही एक ईश्वर असंख्य जीवों को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार जली में बर्फ एवं अग्नि में दीप तन्मय होकर रहता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण अपने को ब्रह्म से पृथक् समझने वाला जीव अपने स्वरूपज्ञान के पश्चात् ब्रह्मरूप हो जाता है।

जीव तथा ईश्वर का उपर्युक्त अभेदसम्बन्ध अखण्डात्मक नहीं अपितु अविभागात्मक है। क्योंकि अविभाज्यसम्बन्ध के कारण दूध जल हो गया – इत्याकारक प्रतीति होती है। जीव को तद्रूप कहने में यही अभिप्राय छिपा हुआ है। वेदान्तसूत्र में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। जीव तथा ईश्वर में अधिष्ठातृ-अधिष्ठेयभाव सम्बन्ध भी कहा जाता है। क्योंकि अधिष्ठान कारण से अधिष्ठेय कार्य का स्वरूपभेद रहने पर भी उनमें अत्यन्त सम्मिश्रण रहता है। दूसरे शब्दों में अधिष्ठान, अधिष्ठेय रूप ही होता है। जैसे चक्षु का अधिष्ठाता सूर्य चक्षुस्स्वरूप है। शब्दान्तर से कहा जा सकता है कि जीव तथा ईश्वर का स्वरूपसम्बन्ध है।

संदर्भ सूची

1. यो.वा., पृ. 63
2. तत्त्व वैशारदी, पृ. 65-66
3. वही, पृ. 67
4. वही, पृ. 68-69
5. योग वार्तिक, पृ. 77-79
6. भास्वती, पृ. 75
7. वही, पृ. 75
8. योग वार्तिका, पृ. 38
9. वही, पृ. 68
10. व्याख्याकारों की दृष्टि में पातंजल योगसूत्र, (विमला कर्णाट), पृ. 116